अहिंसा से विश्वशांति एवं पर्यावरण शुद्धि

शाश्वत तीर्थ अयोध्या में जन्मभूमि टोंक पर विराजमान भगवान ऋषभदेव

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 514
ISBN-978-93-87891-32-6

अहिंसा से विश्वशांति
एवं
पर्यावरण शुद्धि

–प्रेरणा एवं मंगल आशीर्वाद –

भारतगौरव गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी

–प्रस्तुति –

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न

श्री चन्दनामती माताजी

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र., फोन नं.- (01233) 280184, 280994

Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2545	मूल्य
1100 प्रतियाँ	आश्विन शु. एकादशी, 9 अक्टूबर 2019	20/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

(दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं सम्पादकः-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

-: प्रबंध सम्पादक :-

डॉ. जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

विश्वशांति प्रार्थना

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

-बसंततिलका छंद-

शांतिं करोतु भगवन्! जगतां जनानां।
शांतिं करोतु भगवन्! प्रतिपालकानां।।
शांतिं करोतु भगवन्! जिनशासकानां।
शांतिं करोतु भगवन्! हितकारकाणां।।1।।

-अनुष्टुप्-

विश्वशांतिं समृद्धिं च, कुर्वन्तु परमेश्वराः।
येषां स्मरणमात्रेण, शान्तिर्भवति सर्वदा।।2।।

यत्र सर्वोच्चमूर्तिः स्यात्-यत्र माता तपस्विनी।
तत्र जैनेन्द्रवाणी तु, सदा भूयात् यशस्विनी।।3।।

चतुर्वेदानुयोगानां, स्वाध्यायात् यत्फलं भवेत्।
ज्ञानमत्यार्यिकामातुः, दर्शनात्तत्फलं लभेत्।।4।।

ज्ञानमत्यार्यिका माता, गणिन्यां प्रमुखा कलौ।
नमस्तस्यै सरस्वत्यै, ज्ञानमूर्त्यै नमो नमः।।5।।

तर्ज-भावना दिनरात मेरी.....

प्रार्थना भगवान! तुमसे सब सुखी संसार हो।
प्रार्थना भगवान! तुमसे जग में शांति अपार हो।।
प्रार्थना हे नाथ! विश्व की भावनाएं उदार हो।
प्रार्थना है हर हृदय अध्यात्म का भंडार हो।।

अहिंसा से विश्वशांति एवं पर्यावरण की शुद्धि हो सकती है!

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

हम सब जिस देश के अंदर निवास करते हैं, इसका नाम है-भारत। विश्व के जितने भी देश हैं उन सबका अपना-अपना कोई न कोई धर्म होता है, जाति अलग रहती है, लेकिन सारी दुनिया के अंदर भारत एक ऐसा देश है, जहाँ पर हर धर्म, हर जाति के लोग अपने-अपने स्वतंत्रता के अनुसार ईश्वर की आराधना करते हैं और इसीलिए धर्मनिरपेक्ष शब्द का इस भारत देश के लिए प्रयोग किया गया है। धर्म-निरपेक्ष भारत देश के हम वासी हैं। यहाँ का लोकतंत्र, यहाँ का गणतंत्र हम सबको प्रभावित करता है और यहाँ से हमेशा-हमेशा से अध्यात्म, अहिंसा, दया, करुणा इन चीजों का निर्यात दुनिया के कोने-कोने में होता रहा है। शांति और अहिंसा, ये एक-दूसरे के पूरक हैं।

अहिंसा प्रेम के दर्शन का नाम है। Ahimsa is the Philosophy of Love. अहिंसा विश्वशांति की कुंजी है और प्रेम, दया, करुणा, मैत्री और सौहार्द का पर्यायवाची नाम है-अहिंसा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने वनवास के समय एक गृद्ध पक्षी के ऊपर दया की। शरणागत एक पक्षी आया। उस पर दया करके उन्होंने एक महापुरुष का जरा सी देर का सत्संग किया और उस पक्षी की जटाएं स्वर्णमय हो गई थीं। जैन रामायण के अनुसार तब उस पक्षी को राम और सीता ने जटायु की संज्ञा दी और उस जटायु ने उनकी दया, अहिंसा, करुणा का बदला, उस उपकार का बदला ऐसे चुकाया कि जब सीता जी का अपहरण हुआ और रावण ने जटायु को भी घायल कर दिया, उस समय जंगल में पड़ा था। रामचन्द्र जी सीता को ढूंढ रहे थे, तब घायल अवस्था में जटायु ने बताया कि आपकी सती-सीता को रावण हरण करके ले गया है ये उसने मरते दम तक अपने उपकार का बदला चुकाया।

जैसे सरोवर की शोभा कमल से होती है, पक्षी की शोभा पंख से होती है, भोजन की शोभा नमक से होती है, नारी की शोभा शील से होती है, ऐसे ही हमारे देश की शोभा दया और अहिंसा से है।

भारतीय अहिंसा क्या है ?

सस्य श्यामला भारतदेश की पावन धरा पर सदाकाल से तीर्थंकर भगवन्त एवं सन्तों के जन्म लेने और अपने अमिट संदेशों को प्रगट करने की प्राचीन परम्परा रही है। यहाँ ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' का सूत्र प्रत्येक प्राणी अपनाते हुए एक-दूसरे के प्रति मैत्री-सौहार्द और प्रेम-वात्सल्य की गंगा प्रवाहित करते रहे हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति का मूल सिद्धान्त है–''अहिंसो परमो धर्मः'' अर्थात् अहिंसा संसार का सर्वोत्कृष्ट-परम धर्म है। इसे हम इस तरह भी जान सकते हैं कि–

AHIMSA IS THE PHILOSOPHY OF LOVE अर्थात् अहिंसा धर्म प्रेम में निहित एक दर्शन है।

दूसरे शब्दों में अहिंसा को विश्वशांति की आधारशिला भी कहा जाता है-

AHIMSA IS THE KEY OF WORLD PEACE अर्थात् अहिंसा विश्वशांति की कुंजी है।

इसी अहिंसा सिद्धान्त के बल पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने 300 वर्षों की गुलामी से पराधीन भारत को सन् 1947 में आजाद कराया था, जिसके कारण आज पूरे विश्व में गांधी जयंती के दिन 2 अक्टूबर को "International Day of PEACE" (अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस) के रूप में मनाया जाता है।

भारतीय परम्परा में जहाँ किसी जीवधारी प्राणी को जान से मार देना हिंसा पाप के रूप में माना है, वहीं मन-वचन-कायपूर्वक किसी के दिल को दुखाना, उसे कष्ट की अनुभूति (Feeling) कराना भी भावहिंसा की श्रेणी में माना गया है। किन्तु आज का मानव अपने मान-दम्भ एवं अहंकार के वशीभूत होकर दूसरे के दुःखों से पूर्ण अनभिज्ञ बना रहता है।

भौतिकता की चकाचौंध में मानव निज को भूल गया है।
दुनिया की झूठी माया और वैभव में ही फूल गया है।।
क्षणभंगुर लक्ष्मी की खातिर मानवता भी आज रो रही।
दुनिया की हर सांसों में हिंसा अधर्म की बात हो रही।।

अतः हमें क्या करना चाहिए? इसका चिन्तन भी आवश्यक है।

भारतीय सन्तों की वाणी सुनकर अपनी प्यास बुझाओ।
त्याग और संयम की ज्योति अपने जीवन में चमकाओ।।
सन्तों की वाणी प्राणी के उन्नति की आधारशिला है।
कथनी को करनी में बदलो शुभ अवसर यह आज मिला है।।

बंधुओं! आज हम सभी वर्तमान विश्व में व्याप्त आतंकवाद, हिंसा, विनाश, अशान्ति, परस्पर शत्रुता, विद्वेष, एक-दूसरे से बदला लेने की भावना आदि विकृतियों से ग्रसित हो रही मानवता को देख रहे हैं। ''अहिंसामयी शाश्वत धर्म'' का शीतल जल ही इन अग्नि ज्वालाओं के उपशमन में सहयोगी हो सकता है, यही तीर्थंकर भगवन्तों की सदैव से देशना रही है। व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से की गई धर्माराधना, मंत्रानुष्ठान, विधि-विधान भी वैश्विक वातावरण को प्रभावित करके क्षेम-सुभिक्ष-शान्ति-सौहार्द की स्थापना करने में अत्यन्त कार्यकारी सिद्ध होते हैं। अतः प्राथमिक रूप से मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसात्मक प्रवृत्ति से दूर रहकर करुणा, दया एवं मैत्री की भावना रखते हुए भारतीय संस्कृति की जड़स्वरूप अहिंसा धर्म का पालन सभी के लिए परम आवश्यक है। क्योंकि-

आज शेर अजगर आदिक से मानव को नहिं खतरा है।
दानव जैसे मानव से ही मानवता को खतरा है।।
मैत्री भाव से ही मानव सबको सुखमय कर सकता है।
दुनिया का हर प्राणी सुख को चाहे दुख से डरता है।।

सार रूप में हमें यही समझना है कि हिंसात्मक भावनाएँ मनुष्य के लिए जन्म-जन्मान्तर में घातक होती हैं जबकि अहिंसा-दया-मैत्री-सौहार्द और परोपकारी प्रवृत्ति से मानव हमेशा मानसिक और शारीरिक सुख-सन्तुष्टि-प्रसन्नता की अनुभूति करता है। अतः निम्न पंक्तियों के माध्यम से जीवन में खुशियाँ लाने का प्रयत्न करना सचमुच में आवश्यक प्रतीत होता है–

"Burn all the bad memories of your past and dressup the colour of your sweet memories, love and happiness."

अर्थात् बीते हुए भूतकाल की सभी खराब यादों को भस्म करके अपने हृदय को नई-नई खुशियों से, मीठी-मीठी यादों से भर दो, तब यह वर्तमान जिन्दगी अपने एवं दूसरों के लिए उपहार बन सकती है।

अहिंसा से ही विश्वशांति संभव हो सकती है!–

अहिंसा और विश्वशांति एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि हिंसात्मक नीतियों से, हिंसा के उपकरण अस्त्र-शस्त्रों से देश-समाज एवं परिवारों में पारस्परिक वैमनस्य, दुश्मनी, कलुषता और जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर ही बंधता है, वह घटता कभी नहीं है, जबकि प्रेम और अहिंसा के शीतल जल से कई जन्मों के पुराने वैर भी क्षण मात्र में मैत्री का रूप धारण कर लेते हैं।

ईसवी सन् 2000 के अगस्त में U.N.O. (संयुक्तराष्ट्र) द्वारा अमेरिका की धरती पर एक विशाल ''मिलेनियम विश्वशांति शिखर सम्मेलन'' (Milleniam World Peace Summit) का आयोजन हुआ, जिसमें अनेक देशों के लगभग 100 धर्मगुरुओं ने एकजुट होकर गंभीर चिन्तन-मन्थन किया। भारत से जैनधर्माचार्य के रूप में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अपने शिष्य कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन (वर्तमान में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी) को उसमें प्रतिनिधित्व करने हेतु भेजा, वहाँ उन्होंने प्राकृतिक जैनधर्म, युगादिब्रह्मा ऋषभदेव तथा भगवान महावीर के अहिंसामयी सर्वोदय सिद्धान्तों को विश्वशांति के लिए अमोघ शस्त्र के रूप में प्रतिपादित किया तथा तत्संबंधी साहित्य भी प्रदान किया, वहाँ सभी धर्माचार्य इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तव में अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से ही विश्वशांति संभव हो सकती है।

हम सब उस भारत देश के वासी हैं जहाँ के कण-कण में त्याग की, तपस्या की महक है, जो सैकड़ों ऋषि-मुनियों की पावन तपस्थली है, जहाँ सदैव से अध्यात्म की गंगा बही है और जिसे 'विश्व गुरु' कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है, ऐसी उस पावन-पवित्र भूमि के संतों द्वारा विश्व के सामने सदा से उन सिद्धान्तों को रखा गया है कि जिनका आधार लेकर विश्व के कोने-कोने में शांति, सद्भाव एवं खुशहाली का सुंदर वातावरण तैयार किया जा सकता है। मात्र भारत की संत परम्परा ही नहीं वरन् संसार के समस्त देशों के धर्म भी इसी समरसता एवं सर्वोदय की राह दिखाते हैं।

आज का विश्व विज्ञान की असीम विस्तृत छत्रछाया में जी रहा है और बिना इस वैज्ञानिक प्रगति के जीवन का निर्वाह संभव भी नहीं है अतः विज्ञान की महत्ता को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। प्रश्न बस इतना है कि उस विज्ञान का संचालन

किन हाथों से हो, उसके पीछे कौन सी मानसिक वृत्ति कार्य करे ? वास्तव में इस मानसिक वृत्ति का विकास हमें धर्म के माध्यम से करना है।

जहाँ तक गरीबी का प्रश्न है, वहाँ मात्र धन की कमी को निर्धनता मान लेना हमारी संस्कृति के अनुसार उचित नहीं है। वास्तविक निर्धनता तो विचारों की निर्धनता है कि जहाँ मात्र व्यक्तिगत पोषण की भावना ही सर्वोपरि रहती है, दूसरे की खुशियों एवं अधिकारों का कोई ध्यान नहीं रखा जाता है, इस निर्धनता से यदि छुटकारा पा लिया जाये तो आर्थिक गरीबी तो स्वतः ही दूर भाग सकती है। भारत की संस्कृति में मानवीय गुणों के विकास को सबसे बड़ा धन माना है, जब मानव के अंदर दया की भावना, करुणा, वात्सल्य, मैत्री जैसे गुण विकसित हो जाते हैं, दूसरों की उन्नति को सहर्ष स्वीकार करने की भावना आ जाती है, दूसरे के दुःख से विचलित होना जब वो सीख लेता है, तब वह अपने से बढ़कर दूसरे को सुख पहुँचाना चाहता है, उसके मन में सभी के अस्तित्व का पूरा सम्मान रहता है और ऐसे में जीवनोपयोगी संसाधनों का किसी विशेष सामाजिक वर्ग के लिए एकत्रीकरण नहीं होता बल्कि पूरे समाज में वितरण स्वतः ही हो सकता है। विश्व के पास कमी संसाधनों की नही है वरन् उनके असमान वितरण की है। अतः हमें मूल पर प्रहार करना है। दिल की निर्धनता, विचारों की निर्धनता को पहले हमें दूर हटाना है और इसके लिए हम धर्माचार्यों का बहुत विशेष योगदान हो सकता है, हमें अपने अनुयायियों को मानवतावादी दृष्टिकोण का पाठ पढ़ाना है, सम्पूर्ण विश्व को अपने परिवार के समान समझने का भाव उनमें फलीभूत करना है तभी गरीबी से लड़ा जा सकता है और गरीबी के अभिशाप से उत्पन्न होने वाले सभी अपराधों को भी न्यूनतम करते हुए विश्व समाज में समरसता की कल्पना को साकार किया जा सकता है।

भारत भूमि की यह विशेषता है कि इस संस्कृति की महान संत परम्परा ने सम्पूर्ण मानव जाति को चिंतन की बहुत समर्थ परम्परा प्रदान की है कि जिसका आधार लेकर अपने में बहुत ही सुंदर गुण व विचारधारा विकसित हो जाती है, मानव का निखरा हुआ रूप सामने आ जाता है और ऐसे में विश्व शांति व सुभिक्षता की अवधारणा अवश्य ही साकार हो सकती है, बस आवश्यकता है तो जनसाधारण को सही बात समझाने की।

यहाँ पर एक और पक्ष को हमें समझना है-विश्व के प्रत्येक देश में किसी न किसी धर्म का परिपालन किया ही जाता है और सभी को अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताएँ अतिशय प्रिय होती है। यह बात सत्य भी है कि हर धर्म में सुंदर-सुंदर मानवीय भावनाओं को ही पिरोया गया है और इन्हीं भावनाओं का आश्रय लेकर सभी धर्मावलम्बी विश्व की व्यवस्था के सुचारू परिचालन हेतु अपनी-अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हैं-कोई अहिंसा से विश्व शांति की स्थापना पर जोर देता है, कोई सदाचार को आवश्यक मानता है तो कोई मात्र वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति को ही सारी समस्याओं के निराकरण का साधन समझता है। पर वास्तविकता तो यह है कि ये सभी धर्म एवं धार्मिक मान्यताएँ एक ही उपवन के सुंदर-सुंदर विविध पुष्प हैं, इनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी भीनी-भीनी सुगंध है, एक ही माला के ये अलग-अलग दाने हैं, जब इन सब पुष्पों की सुगंध एक साथ मिलती है, तभी उपवन की सुगंधित छटा का हम आनंद ले पाते हैं, जब सब मोती एक साथ पिरोये जाते हैं तो ही सुंदर माला का निर्माण होता है।

इसी प्रकार हमें भी हर एक धर्म के प्रति सद्भाव रखना है, जहाँ अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति हम दृढ़ रहते हैं, वहीं अन्य धर्मावलम्बी की आस्था को भी हमें सहर्ष स्वीकार करना है, विभिन्न धर्मों के प्रति इस समन्वयवादी दृष्टिकोण का विकास वर्तमान की पहली आवश्यकता है। धार्मिक सहिष्णुता की यह भावना धर्माचार्यों के द्वारा ही जन-जन में स्थापित की जा सकती है। अनेकांत की इस परिकल्पना का मूर्तरूप भारतीय भूमि में हम स्पष्ट देख सकते हैं-जहाँ धर्मों की इतनी विविधता है कि जितनी किसी भी अन्य देश में नहीं है पर फिर भी सभी धर्मावलम्बी एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सौहार्द रखकर एक विशाल गणतंत्र के रूप में जीवन निर्वाह कर रहे हैं।

आज के विश्व में जो अव्यवस्था एवं युद्ध की विभीषिका का दौर चल रहा है, उसका एक मुख्य कारण धार्मिक असहिष्णुता भी है, विभिन्न धर्मों के बीच बड़ी-बड़ी दीवारें खिंची हैं, एक-दूसरे के धर्म के प्रति सौहार्द भाव नहीं है, आदर नहीं है और इसी कट्टरता को लेकर विभिन्न देशों की अपनी सीमाओं के अंदर या तो गृह युद्ध की स्थितियाँ सिर पर खड़ी रहती हैं या

फिर सीमाओं के बाहर दूसरे देशों के साथ निरंतर संघर्ष बने रहते हैं। इस विभीषिका में केवल निर्दोष जीवों का संहार ही नहीं होता वरन् देश-विदेश की आर्थिक स्थिति पर इतना कुप्रभाव पड़ता है कि जनसाधारण को लम्बे समय तक निर्धनता की मार झेलनी पड़ती है।

भारत की संस्कृति वह संस्कृति है कि जिसमें कहा गया है-''कृषि करो या ऋषि बनो'', आज के विश्व को यद्यपि यह सूत्र अप्रासंगिक लग सकता है पर बहुत ही दूरदर्शितापूर्वक यह विचारधारा रखी गयी है। आज का औद्योगिक विश्व यद्यपि समय की मांग है पर साथ ही साथ इस वैज्ञानिक प्रगति ने बहुत सारे प्रश्न भी संसार के सामने रख दिये हैं-जिनमें पर्यावरण प्रदूषण एक ज्वलंत उदाहरण है। हमारा मानना ये है कि वैज्ञानिक विकास भी हमें चाहिए पर एक सीमा के अंदर, जहाँ उसे हमारे अस्तित्व से खेलने का अधिकार न हो, जहाँ हमारे अपने लिए ही वह घातक न बन जाये। वैज्ञानिक प्रगति को हमें अपने शासन में रखना है, उसके द्वारा शासित नहीं होना है। अपनी आजीविका का हम उपार्जन भी करें, वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग भी करें पर अपने हृदय को मानवतावादी क्या प्राणीमात्र के प्रति करुणा के भाव से आप्लावित रखें।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धान्त एवं अनेकांत व स्याद्वाद की विपुल धनराशि संसार को जिसने प्रदान की है उस महान मानवतावादी धर्म के हम अनुयायी हैं। यहाँ जैनधर्म के 24 तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक ने प्राणीमात्र के प्रति करुणा का पाठ पढ़ाया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति में जीव की सत्ता सिद्ध करके सभी के प्रति संरक्षण के भाव का पोषण किया है और यही आज के समय की महती आवश्यकता है क्योंकि पर्यावरण को शुद्ध बनाने वाले यही तो मूल तत्त्व हैं। इनका संरक्षण अर्थात् पर्यावरण संरक्षण।

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी सदैव यही कहा करती हैं कि इस युग के प्रारंभ में मानवीय संस्कृति का जिन प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने प्रतिपादन किया था, उनका यही उपदेश है-''जिओ और जीने दो'' इस एक सूत्र में सब कुछ समाहित है-मानवतावादी दृष्टिकोण, धार्मिक सहिष्णुता, पर्यावरण संरक्षण। इसी सूत्र में विश्वशांति

का संसार बसा हुआ है। विज्ञान की ऊँचाईयों को देखकर हमें ये समझ लेना चाहिए कि ये अपनी आत्मा में छिपे असीम ज्ञान का एक अंश है। सही तथ्य तो ये है कि हमें भौतिक उन्नति के साथ आत्मिक उन्नति पर भी लक्ष्य करना है, अपनी आत्मा में छिपी ज्ञान की अनमोल निधि को प्रगट करने को प्रयास करना है क्योंकि यही वह निधि है जिससे सारी निर्धनताएँ विनष्ट हो जाती हैं, अपना अनंत सुख हमें प्राप्त हो जाता है। हमारे तीर्थंकरों ने, हमारे महापुरुषों ने प्राणीमात्र के लिए यही संदेश दिया है, यही शाश्वत मार्ग बताया है।

अहिंसा एवं सदाचार से विश्व में शांति की स्थापना संभव है–

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से डरता है। इसी सुख शांति को प्राप्त करने के लिए मानव भी रात-दिन प्रयास करता है, तरह-तरह के उपक्रम करता है पर विश्व धर्म को प्रतिपादित करने वाले संतों ने ऐसी सुख-शांति का यदि कोई मूल आधार माना है तो वह है-अहिंसा और सदाचार। अर्थात् जब तक जीवन में मन से, वचन से तथा शरीर से किसी भी प्राणी को दुःख न पहुँचाने की अहिंसक वृत्ति का एवं क्षमा, दया, सहनशीलता आदि गुणों रूप सदाचरण का उदय नहीं होता है, तब तक न व्यक्ति के अपने जीवन में शांति आती है और न ही समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शांति स्थापित हो सकती है।

युग के प्रारंभ में जबकि मानव भोग प्रधान जीवन जी रहा था और उसकी सारी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों अर्थात् इच्छित फल प्रदान करने वाले वृक्षों के द्वारा सहज में ही पूरी हो जाती थी, तब मानव को किसी भी प्रकार के संघर्ष, वैमनस्य इत्यादि का सामाना ही नहीं करना पड़ता था, सब ओर स्वयं ही शांति का सुख का वातावरण था पर धीरे-धीरे काल का प्रभाव से कल्पवृक्षों की शक्ति घटने लगी और जनसमुदाय को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की मूर्ति में कठिनाई होने लगी, ऐसे संक्रामक काल में एक महान पुरुष का धरती पर अवतरण हुआ, जिनका नाम था ''भगवान ऋषभदेव''। भारत भूमि की अयोध्या नगरी में पिता ''नाभिराय'' एवं माता ''मरुदेवी'' से जन्मे ऋषभदेव ही मानवीय संस्कृति के आद्य प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्हें ही युगादि पुरुष, आदिब्रह्मा, आदिसृष्टा आदि नामों से जाना गया, वैदिक (हिंदू) ग्रंथों ने उन्हें अष्टम अवतार माना तो मुस्लिम

समुदाय ने उन्हें आदम-बाबा कहकर पुकारा। वस्तुतः यही थे इस युग में जैनधर्म के प्रथम प्रवर्तक-आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव।

प्रजा की कठिनाईयों को जानकर महाराज ऋषभदेव ने जीवन जीने की कला को सिखाने के लिए षट् क्रियाओं का उपदेश दिया। वे षट् क्रियाएँ थीं-असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। 'असि' अर्थात् अपने रक्षण के लिए युद्ध क्रिया, 'मसि' अर्थात् लेखन क्रिया, 'कृषि' अर्थात् अपने पुरुषार्थ द्वारा फल, सब्जी, मेवा इत्यादि उत्पन्न करना, 'विद्या' विभिन्न प्रकार की कलाओं-विद्याओं का उपार्जन, 'वाणिज्य'-आर्थिक व्यापार तथा 'शिल्प'-गृह निर्माण आदि क्रियाएँ।

भगवान ऋषभदेव ने बहुत ही दूरदर्शितापूर्वक इन छह क्रियाओं का प्रतिपादन किया था, जिसमें एक-दूसरे के प्रति परिपूर्ण अहिंसक वृत्ति रखते हुए सदाचरण रूप व्यापार करना ही मूल आधार था। ऐसे आदिपुरुष द्वारा उपदेशित क्रियाओं का मूल मर्म संसार को बहुत ही सम्यक् प्रकार से समझना होगा। 'असि' क्रिया में भगवान ने युद्ध का निर्देश तो किया है पर यह 'युद्ध' है अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, न कि बलपूर्वक दूसरे के अधिकार क्षेत्र को छीनने के लिए। इसी प्रकार 'कृषि क्रिया' में अपने शारीरिक श्रम द्वारा शाकाहाररूप अनाज, फल, सब्जी, मेवा एवं अन्य भोज्य पदार्थों को उत्पन्न करके भगवान ने सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जीविकोपार्जन की बात कही थी। विस्तृतरूप से यदि देखा जाये तो इन छह क्रियाओं के आधार को लेकर ही सारे विश्व में हर क्षेत्र में आधुनिक स्तर तक की उन्नति हुई है पर यह काल का ही दोष कहना होगा कि उन मूल क्रियाओं के स्वरूप में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ भी उत्पन्न हो गयीं, जिसके कारण सारे विश्व में आज असंतुलन, असुरक्षा, हिंसा, वैमनस्य एवं कटुता की भावनाएँ बहुलरूप में अनुभव की जा रही हैं, देश-देश के बीच युद्ध का माहौल बना हुआ है, विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी से अभिशप्त है और पर्यावरण भी नित-प्रति दूषित होता चला जा रहा है।

आज के मानव को एक बार गंभीरतापूर्वक सारी स्थितियों का चिंतन करना होगा और कुछ सिद्धान्तों को सदैव के लिए आत्मसात करना होगा। जिन सिद्धान्तों को सदैव के लिए अपनाना है वे कोई नवीन नहीं हैं, वरन्

भगवान ऋषभदेव जैसे महापुरुषों द्वारा प्रारंभ से प्रणीत अहिंसा, सहिष्णुता, पारस्परिक मैत्री-सौहार्द, सदाचार से युक्त सद्व्यवहार ही हैं। इनके आधार से ही पूर्व में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में शांति व समरसता स्थापित हुई है तथा आगे के लिए भी यही पथ-प्रदर्शक हैं, सही बात तो यही हे कि इन सिद्धान्तों से भटक जाने के कारण ही विश्व की स्थिति प्रतिकूलताओं से घिर गयी है।

यदि इतिहास उठाकर देखें तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि हिरोशिमा-नागासाकी पर गिरे बमों से क्या शांति स्थापित हो सकी ? भारत का स्वतंत्रता आंदोलन तो जग-प्रसिद्ध है-जलियां वाला बाग, अमृतसर में सैकड़ों निर्दोष लोगों पर गोली चलवाकर भी क्या अंततः भारत को पराधीन रखा जा सका, बल्कि अन्त में महात्मा गांधी आदि महापुरुषों के अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन इत्यादि के माध्यम से ही असंभव लगने वाला देश की आजादी का लक्ष्य भी संभव सिद्ध हो सका।

युद्ध की विभीषिका में जलते आज के विश्व के लिए भी यदि कोई मलहम है तो वह अहिंसा की भावना से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। सभी देशों के धर्माचार्य यदि यह प्रयास करें कि उनके अनुयायियों में प्राणीमात्र के लिए दुःख न पहुँचाने की अहिंसात्मक भावना व्याप्त हो जाये तो संसार की युद्ध संबंधी आधी से ज्यादा समस्याएँ स्वतः ही सुलझ सकती हैं, क्योंकि दूसरे के अधिकार को बलपूर्वक हरण करने की इच्छा से भी न जाने कितनी लड़ाइयाँ विश्व भर में चल रही है। जनसमुदाय को यह समझाने की आवश्यकता है कि नरसंहार से, रक्तपात से, युद्ध-विभीषिका से न आज तक किसी को शांति मिली है और न मिल सकती है, युद्ध तो प्यास बुझाने के लिए रेगिस्तान की मृगमरीचिका के समान है जो शांति का छलावा हो सकते हैं, शांति नहीं।

वास्तविकता तो यह है कि आज की धरती पर निरंतर चल रहे नरसंहार, पशुओं पर होने वाले अत्याचार, बूचड़खानों में नित प्रति मरते जीवों के करुणा क्रंदन से ही धरती माँ का कलेजा इतना आहत होता जा रहा है कि जिसकी परिणति निरंतर भूकंपों, बाढ़, सूखा, अतिवृष्टि जैसी प्राकृतिक आपदाओं के रूप में सामने आती है। वैज्ञानिक रूप से भी इस तथ्य को पोषित करने वाले प्रमाण मिले हैं।

जब तक इस अहिंसा की भावना को जन-जन के द्वारा महत्व नहीं दिया जायेगा, अपने जीवन में उतारा नहीं जायेगा, तब तक पारस्परिक सामंजस्य स्थापित नहीं होगा और ऐसे मैत्रीपूर्ण सौहार्द भाव के बिना शांति की कल्पना नहीं की जा सकती।

अहिंसा की भावना किसी सदाचारी मानव का प्रमुखतम गुण हैं, इस युग के विकसित होने से अन्य नैतिक भावों जैसे करुणा, सहनशीलता, दया, क्षमा, प्रेम आदि भावनाएँ तो स्वतः ही विकसित हो जाती हैं और मानव के सदाचारी बनते ही संसार को स्वर्ग बनते कुछ भी देर नहीं लगेगी। अतः धर्माचार्यों को भी अपने प्रभाव से अपने अनुयायी भक्तों में इन सब गुणों को भरने का सद्प्रयास करना होगा और इस प्रकार से विश्वशांति की परिकल्पना को साकार करना होगा।

जहाँ तक गरीबी से अभिशप्तता का प्रश्न है, वहाँ पर आज के आधुनिक युग में अहिंसक कृषि को मुख्य व्यवसाय के रूप में अपनाने का सुझाव इसलिए कार्यकारी है क्योंकि सीमित साधनों के द्वारा जहाँ अपनी आजीविका का प्रश्न हल हो जाता है, वहाँ पर ही पूरे समाज के लिए उपयोगी अन्न के उत्पादन से राष्ट्र की आर्थिक प्रगति भी सुचारू हो सकती है तथा इस स्वावलम्बन से अन्य बहुत सी समस्याएँ स्वतः ही हल हो जाती हैं।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी एक ऐसी महान दिव्य विभूति है कि जो अपने सम्पूर्ण जीवन में अहिंसात्मक एवं वैराग्यमयी चर्या का पालन करके जहाँ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए 'जिओ और जीने दो' का संदेश प्रदान करती रहीं, वहीं उनके विराट व्यक्तित्व ने विश्वभर में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। उन्होंने अपने दीर्घकालीन दीक्षित जीवन में उत्तर भारत के हस्तिनापुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल पर 'जम्बूद्वीप' नामक जैन भूगोल रचना का निर्माण करवाकर देश-विदेश के वैज्ञानिकों को सृष्टि की खोज का एक विषय प्रदान किया है, 400 से अधिक ग्रंथों की उन्होंने रचना की है तथा राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करके विश्व मैत्री का संदेश जन-जन तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त की है। वे सदैव कहा करती हैं कि इस भारत भूमि की पवित्र धरा पर जहाँ की ऋषभदेव, राम, हनुमान, महावीर, बुद्ध एवं गांधी जैसी महान सदाचारी आत्माओं ने जन्म लिया है,

उस धरा के धर्माचार्य सदैव अखिल विश्व को उच्चतम नैतिक आदर्शों का समय-समय पर संदेश प्रदान करते रहते हैं।

जीवन में अहिंसक वृत्ति का आचरण करने हेतु जैनाचार्यों ने हिंसा के 4 भेद बताकर उनको यथाशक्ति त्याग करने का उपदेश दिया है।

(1) संकल्पी हिंसा—मन में संकल्प करके अभिप्रायपूर्वक किसी जीव की हत्या करना संकल्पी हिंसा है। यह हिंसा पूर्णरूप से त्याग करने को कहा गया है। जैसे-खटमल, जूँ, मच्छर आदि मारना।

(2) आरंभी हिंसा—अपनी रोज की दैनिक क्रियाओं में सावधानीपूर्वक गृहस्थकार्य करते हुए भी कुछ हिंसा हो जाती हैं, जैसे-पानी भरना, अग्नि जलाना, भोजन बनाना, झाड़ू लगाना..... आदि क्रियाएँ। यह हिंसा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के लिए क्षम्य है। किन्तु अनावश्यक करना पाप है।

(3) उद्योगी हिंसा—व्यापार, खेती, उद्योग आदि में न चाहते हुए भी कुछ जीवों की हिंसा हो जाती है, जो गृहस्थों के लिए क्षम्य है। किन्तु अंडा-मांस-मछली-चमड़े आदि के व्यापार तो महापापबंध के कारण हैं अतः उनका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(4) विरोधी हिंसा—भारतीय संस्कृति, जिनधर्म, धर्मायतन, तीर्थ आदि एवं राष्ट्र-राज्य-परिवार की सुरक्षा हेतु अन्याय एवं अन्यायियों का विरोध करते हुए यदि किसी की हिंसा होती है तो वह विरोधी हिंसा कहलाती है। यह भी हिंसा गृहस्था के लिए क्षम्य है। जैसे श्रीराम ने नारी के सतीत्व की रक्षा के लिए रावण के साथ घोर युद्ध किया, किन्तु वे हिंसक नहीं कहलाए। आज भी देश की रक्षा के लिए सीमा पर खड़े नौजवानों से जो हिंसा होती है वह हिंसा नहीं है।

हिंसा के इन सभी भेदों का विशद विवेचन जैनाचार्यों ने धर्मग्रंथों में किया है जिनका अध्ययन करके अहिंसा की सूक्ष्म परिभाषाओं को जानकर वर्तमान की परिस्थितियों से जूझते हुए मानव को आतंकवाद, सामाजिक-पारिवारिक विघटन, परमाणु युद्ध की आशंका आदि समस्याओं पर गंभीर चिंतन करना होगा।

प्रिय पाठकों! अब आप आगे जानिए कि—

धरती का पर्यावरण अहिंसा से ही शुद्ध हो सकता है!

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अर्थव्यवस्था मुख्यरूप से कृषि-खेती पर आधारित है, क्योंकि देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि व्यवस्था पर ही अपना जीवनयापन करती है। कृषि से राष्ट्रीय आय का लगभग 50 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। कृषि की हीन दशा को देखकर ही आजाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था–

Everything may wait but agriculture can not. There is nothing more important in India today than better-agriculture.

अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रतीक्षा कर सकती है परन्तु कृषि नहीं। वर्तमान में भारत देश में अच्छी कृषि से बढ़कर कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है।

भारत के लिए यह विडम्बना ही है कि यहाँ की 70 से 80 प्रतिशत जनसंख्या कृषि में संलग्न है फिर भी **भारत को खाद्यान्न** (गेहूँ-चावल-मेवा-फल आदि) दूसरे देशों से मंगाना पड़ता है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय आंकड़े बताते हैं कि अमेरिका के अन्दर कृषि में जनसंख्या का केवल 4 प्रतिशत भाग संलग्न है, फिर भी वह विश्व की एक तिहाई जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति करने में सक्षम है। हमारे देश में पर्याप्त भूमि है किन्तु फिर भी वह आत्मनिर्भर नहीं है। इस विषय में देश के युवा वर्ग एवं शासकों को चिन्तन करने की आवश्यकता है।

खेती की हरियाली और वृक्ष पर्यावरण को शुद्ध करते हैं!

सड़क के किनारे चलते हुए पथिकों को हरे-भरे खेत देखकर उनके मनों में हरियाली समा जाती है और अनजाने में ही उन्हें स्वस्थता प्राप्त होती है, किन्तु आज अनावश्यक काटे जा रहे जंगल के पेड़, खेतों में डाली जा रही कीटनाशक दवाईयाँ जहाँ मानव मस्तिष्क को बीमार बना रही हैं, वहीं द्रुतगति से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। अतः पर्यावरण की शुद्धि हेतु सेमिनार-कान्फ्रेन्स आयोजित करने पड़ते हैं, किन्तु इनसे पर्यावरण की शुद्धि कभी नहीं होगी, प्रत्युत् अहिंसक कृषि, वृक्षारोपण आदि से पर्यावरण की शुद्धि का अभियान विभिन्न संस्था-संगठनों के द्वारा चलाना आवश्यक है।

मुर्गी पालन एवं मत्स्यपालन केन्द्र पालक नहीं मारण केन्द्र हैं!

इनसे पर्यावरण भयंकर रूप से प्रदूषित हो रहा है–

भगवान महावीर, राम और कृष्ण की धरती भारत देश में जहाँ Morning Walk (प्रातःकालीन भ्रमण) के समय लोगों के मन, मस्तिष्क में हरे-भरे, बाग-बगीचों से फल और फूलों की सुगंधी का अहसास हुआ करता है, वहीं वर्तमान में शहरों एवं गाँवों में जगह-जगह Poultry farms देखकर वहाँ की दुर्गन्ध से मन एकदम अपवित्र हो जाता है तथा अपनी पवित्र संस्कृति के ललाट पर पशु-पक्षियों के दूषित रक्त का टीका लगते देखकर हृदय बरबस रो पड़ता है। इस विषय पर हमारे समाज को, कृषकों तथा सत्ताधारी शासकों को गहराई से चिन्तन करके संस्कृति का संरक्षण, पर्यावरण की शुद्धि एवं अहिंसा के पालन का कदम आगे बढ़ाना चाहिए, क्योंकि ये पालन केन्द्र के नाम से चलाए जा रहे हिंसक उद्योग शत-प्रतिशत जीवों के मारण केन्द्र बनकर भारतीय अहिंसक शाकाहारी जनता को माँसाहार करने की प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। इन केन्द्रों को कभी भी कृषि की संज्ञा नहीं देना चाहिए, क्योंकि कृषि पेड़-वनस्पति का उत्पादन है और शेष अण्डे-मछली आदि का उत्पादन जीवधारी प्राणियों के पेट से होता है। अतः खेत और वृक्षों से उत्पन्न वस्तु को शाकाहारी माना गया है एवं मुर्गी के पेट से उत्पन्न अण्डे माँसाहार की श्रेणी में ही आते हैं।

पाठ्य पुस्तकों का विकृत लेखन बाल मस्तिष्क के लिए खतरनाक है!

भारत में प्राचीन काल से चली आई प्राकृतिक शाकाहारी भोजन की परम्परा को वर्तमान की प्रारंभिक पाठ्य पुस्तकों ने विकृत बना दिया है। बच्चों को पढ़ाई जाने वाली Social Studies की पुस्तकों में Good Food नामक lesson में शाकाहारी और माँसाहारी (Veg. & Non-Veg.) चीजें, जैसे-दूध की बोतल, केला, मछली, अण्डा आदि एक साथ चित्रित किये जाते हैं अतः बाल मन उन सबको एक समान समझकर माँसाहारी वस्तुओं को भी अनायास खाने की इच्छा करता है जबकि यह हमारी संस्कृति के साथ बहुत बड़ा धोखा है।

बंधुओं! यदि हमें बचपन से ही बालक-बालिकाओं को तामसिक एवं कठोर-हिंसात्मक प्रवृति से रोकना है, उन्हें सात्विक वृत्ति वाला, दया और

परोपकारयुक्त स्वभाव वाला बनाना है तो उन्हें प्रारंभ से शाकाहार और मांसाहार में अन्तर बताना होगा तथा Public Schools (पब्लिक स्कूलों) में चल रही पुस्तकों के लेखक और प्रकाशकों से भी अनुरोध करना होगा कि वे ऐसे मिश्रित भोजन की प्रेरणा अपने Lesson में कदापि न देवें। क्योंकि ध्यान दीजिएगा कि-

नींव मकान की आधार शिला है,
रीढ़ शरीर की आधारशिला है,
संस्कार देना है तो बच्चों में दो,
ये देश और समाज की आधारशिला हैं।

खानपान और खानदान शुद्धि की महत्त्वपूर्ण भूमिका-

बच्चों के खानपान की बात तो प्रारंभिक भूमिका है, पुनश्च युवाओं के अत्याधुनिक विचारों में भी खानपान की अशुद्धता का साम्राज्य बढ़ रहा है तथा जाने-अनजाने में Fast Food एवं विदेशी व्यंजनों के स्वादों में पड़ कर देश का बड़ा प्रतिशत युवा अपने खानपान को अपवित्र बनाकर मन को भी अशुद्ध करता हुआ पाप का संचय कर रहा है।

इसमें हमारे समाज की महिलाओं की अनदेखी एवं आलसी वृत्ति का भी बहुत बड़ा योगदान देखा जा रहा है। जो नारी अपने घर की बेटी-बहन-माँ-बहू आदि के रूप में घर के अंदर नन्हें बच्चों से लेकर वृद्ध माता-पिता, सास-ससुर सबके लिए सबेरे से ताजा दूध और नाश्ता बनाकर उसके साथ ममता-प्रेम और अपनत्व का रस घोलकर सबको परोसती थी, वही नारी अब रेडीमेड पिज्जा-बर्गर-डबलरोटी-बिस्किट-आमलेट आदि देकर बच्चे-पति आदि का टिफिन तैयार करती है। तब आप स्वयं चिन्तन करें कि वह केवल पेट भरने का साधन ही तो रहा, उस टिफिन के भोजन में कोई ममता या प्रेम-अपनत्व का रस कहाँ घुल पाया ? इस पर हमारी बहनों को गहराई से चिन्तन करना होगा, अन्यथा खानपान की शुद्धि आपके घर से कोसों दूर चली जाएगी, जिसे वापस लाने में आप स्वयं समर्थ नहीं हो पाएंगी।

इसी तरह खानदान शुद्धि में भी तेजी से बदलाव आ रहा है। भारतीय परम्परा में अपनी-अपनी जाति में विवाह करने से खानदान की शुद्धि मानी जाती है। आज की ऊँची पढ़ाई, इंटरनेशनल कम्पनियों में नौकरी करने की

युवक-युवतियों की परम्परा ने एक-दूसरे के प्रति आकर्षण पैदा करके खानदान शुद्धि को अलमारियों में बंद करके रख दिया है तथा लव जेहाद ने अनेक सुकुमारियों को गुलाम बनाकर जीवन भर आँसू बहाने के लिए बेबस कर दिया है।

युवावस्था की मदहोशी में ऐसे शारीरिक संबंध विजातीय विवाह के लिए एक-दूसरों को मजबूर कर देते हैं और माता-पिता के किंचित् मात्र भी विरोध उनके और परिवार के लिए घातक हो जाते हैं।

अब हमारा विवेकी समाज स्वयं चिन्तन करें कि हमारे पवित्र खानदानों की शुद्धि कैसे रहेगी और हम तीर्थंकर जैसे एवं श्रीराम-कृष्ण महापुरुषों को जन्म कैसे दे पाएंगे ? भारत का हर सम्प्रदाय आज इस समस्या से ग्रसित है अतः मिल बैठकर इसका भी हल निकालना चाहिए।

The Doctrine of Ahimsa*

-Late Pt. Sumer Chand Diwakar
Seoni (M.P.)

It is remarkable that the Jain tenets although very ancient and national are also most modern and uptodate. The doctrine of Ahimsa and its rational, scientific and practical exposition in Jainism is unique and unparalleled in the history of human thought. This doctrine has attracted the attention of the entire globe due to its successful application in liberating India from the foreign domination by the struggle for emancipation based upon the principle of Ahimsa-non-violence. Mahatma Gandhi, while presiding over a Jain function celebrating the birthday of Lord Maharvira at Ahmedabad in 1920, had paid glowing tributes to this Jain doctrine and had added that because of this ennobling and golden gospel of compassion, Jainism can become the religion of the whole world.

These remarks of Gandhiji are very illuminating, "If anybody has developed the doctrine of non-violence it was Lord Mahavira but the modem society does not follow the Lord properly. I request you to understand the Teachings of Lord Mahavira, think over them and translate them into action". It is matter of profound gratification that almost all religions of the world accept the superiority and majesty of this noble doctrine. Jainism has worked out this principle in a most scientific, rational and practical manner. Therefore, all agree that the cult of non-violence is the unique and most sublime contribution of Jainism to humanity.

According to Romain Rolland, "The Rishis, who discovered the law of non-violence in the midst of violence were greater geniuses than Newton, greater warriors than Wellington. Non-violence is the law of our species as violence is the law of the brute." This basic

* Revised reprint of the paper distributed amongst the delegates to the Fifth World Congress of Theosophists, held at Salzburg, Austria, 1967.

principle of Jainism had much influenced Gandhiji from his boyhood. In his book *'Mahatma Gandhi'* Romain Rolland says, "His parents were the followers of the Jain School. Before leaving India his mother made him take 'the three vows' of a Jain which prescribe abstention from wine, meat and sexual intercourse." (pp. 9 and 11). George Catlin's book *"In the Path of Mahatma Gandhi"* points out, "M. K. Gandhi's mother was under Jain influence." (P. 101).

It is remarkable that through the medium of Mahatma Gandhi, the superiority of the weapon of Ahimsa over the armaments of destruction has been acknowledged. Gandhiji said, "Non-violence is the greatest force at the disposal of mankind. It is mightier than the mightiest weapon of destruction devised by the ingenuity of *man."* *(Religion and Society)—By* Dr. S. Radhakrishnan p. 237). In fact, Ahimsa is the royal road to peace and prosperity. It is unfortunate that all nations are busy in manufacturing the most ferocious weapons of destruction which will destroy the whole stock of human civilization and bring about utter extinction of the entire human race. Late John F. Kennedy, the ex-President of America on June 10, 1963 speaking on Peace for all men and for all time had said, "A single nuclear weapon contains almost ten times the explosive force delivered by all of the allied air forces in the Second World War." He had observed. "No nation in the history of battle ever suffered more than the Russians suffered in the course of the Second World War. At least 20 millions lost their lives. Countless homes and farms were burnt or sacked. A third of the nation's territory, including nearly two-thirds of its industrial base was turned into a wasteland."

The pacifist thinker late Bertrand Russel had observed. "A bomb can now be manufactured which will be 25000 times as powerful as that which destroyed Hiroshima."

It is very unfortunate that the massive massacre-might has made astounding advancement and now the entire humanity can be destroyed in a very short time. "It is reported that in 1983 there are

6000 nuclear weapons. A fraction of these will destroy 750 million people with another 340 million seriously injured. This is revealed by the researches of Royal Swedish Academy of Science" (Nagpur Times 4th July 1983).

At this critical juncture the warning of historian Toynbee conveyed in New Delhi is valuable. "In the hurricane of annihilating material power provided by atomic energy, the practice of non-violence is necessary for mankind to save it from self-destruction." *(Hindustan Times* 25-2-60).

The need of the hour is that people should sincerely try to imbibe the spirit of Ahimsa as enunciated in the sacred Jain literature. When Gandhji's path was darkened by insurmountable difficulties, C.F. Andrews says, "He very often turned the pages of Jain works for a Kindly Light in that encircling gloom." When I met Gandhiji in Wardha Ashram in 1934, he said "It is remarkable that unlike Vedic religion Jainism stands for pure Ahimsa without any reservation." In view of the prevailing hatred, vanity, discord, animosity and other evil tendencies, it appears that we have unwisely constructed our houses over a silent-looking volcano and no one knows what will happen, the moment it becomes active to emit fire out of it. The ambrosia of Ahimsa is the only effective and powerful remedy to undo the pernicious effects of unabated materialism and self-centred outlook. Mere name of Ahimsa or sweet orations in its praise would not serve our purpose. It must be honestly translated into life.

The term Ahimsa is negative implying abstinence from killing any living being but it is also a positive virtue based upon universal and fraternal outlook and compassion towards all creatures. Non-violence comprises of purity of thought, word and deed motivated by unbounded compassion and genuine love. Affection in action is essential for Ahimsa. The cultured man ought to be viceless and he should listen to the voiceless and innocent creatures' lamentations and wailings.

Jain thinkers have enjoined upon a votary of Ahimsa to get rid of such violent, callous and cruel practices as meat-eating, hunting for sport and drinking which make the heart merciless, callous and, in fact, kill the conscience. The noble ideal of sanctity of life should be honoured without any reservation. If one takes a broader outlook and adopts a benevolent attitude, he will immediately understand the sublimity of the above ordinance. One who relishes the flesh of an animal at the dining table without any compunction cannot really understand and fully appreciate the sublimity and majesty of Ahimsa doctrine.

If the heart is not hardened and the conscience is not brutalized, one will agree with these sober remarks of Dr. Annie Besant, "Humanity rises, becomes nobler and diviner as the virtues of unselfishness, self-sacrifice and compassion for the weak develop. We all love things that live. God is love."

If a person fattens his body by the flesh of other animals' his adoration of Ahimsa is, in fact, hypocritical. The point for serious consideration of a rational person is, if a thorn which pricks into your foot, makes you uneasy and uncomfortable, would not your bullet-shot or stroke of knife cause indescribable agony to the innocent, helpless, miserable and speechless victim? It is extremely surprising to hear tall talk about morality, amity, harmony, fraternity and universal brotherhood from the cultured leaders of modern society, who forget the miseries of the mute animals, whose flesh they enjoy with great taste and satisfaction. Gandhiji in his essay on Vegetarianism says, "Vegetarian moralists also argue that since meat-eating is not only unnecessary, but harmful to the system, indulgence in it is immoral and sinful, because it involves the infliction of unnecessary pain and cruelty towards harmless animals." He further observes, "I submit the following for the consideration of those who believe in the Bible. Before the Fall we were vegetarians. And God said : behold I have given you every herb bearing seed, which is upon the face of all the

earth, and every tree in which is fruit of a tree yielding seed, to you it shall be for meat and to every beast of the earth and to every fowl of the air, to everything that creepeth upon the earth, wherein there is life, I have given every green herb for meat and it was so."

Gandhiji referring to the glorious Christian period of restitution poles thus, "The wolf also shall dwell with the lamb and the leopard shall lie down with the kid and the calf and the young lion and the fatling together, and a little child shall lead them... And the lion shall eat straw like the ox... They shall not hurt nor destroy in my holy mountains; for the earth shall be full of the knowledge of the Lord, as the waters cover the sea."

Jain thinkers have strictly ordained that a disciple should at the outset learn the lesson of sanctity of life. He should treat all life as sacred and become a strict Vegetarian. Meat-eating destroys the root of mercy and universal fraternity. The heart in fact becomes like the heart of a callous Carnivora. Is not his stomach the graveyard of the butchered innocent animals?

It is noteworthy that modern scientists are in favour of Vegetarian diet. "The Times of India" provides us with these valuable observations in this contest. "Scientists have found that non-vegetarian food increases the tendency towards chronic complaints. Its highly saturated fat content is also prone to raise blood cholesterol levels dangerously leading to heart attack and strokes. In habitual meat-eaters the cholesterol deposits itself on the inside walls of blood vessels in a condition known as arteriosclerosis thus restricting or stopping blood supply to the heart."

"In U.S.A. today there is a marked swing towards vegetarianism. In recent seven million Americans have turned away from flesh foods. George Bernard Shaw is often upheld by Western vegetarians and they emulate him believing that it will yield life of mental and physical vigour and longevity. Flesh consumption can be hazardous in a tropical climate like India where decomposition is fast on account of heat and

where no proper refrigeration facilities exist to keep it safer" (24 Jan. 1982).

Ruskin's observations are thought-provoking, "Unless you are deliberately kind to every creature you will often be cruel to many."

Those who kill others forget that a time will come when they will have to reap the fruits of their cruel practices. If we sow the seed of a banyan tree how can we get an orange tree? Like wise, if we nurse violence, cruelty or hatred in our hearts we will not only spread the baneful aura of evil thought, but it will also give rise to more heinous evil tendencies. If, on the other hand, we sow the seed of goodwill, sincerity and friendship towards all beings, we are sure to reap a rich harvest of increased goodwill and friendship. The Bible says, "Whatsoever a man soweth that shall he also reap. He that diggeth a pit shall fall into it. They have sown the wind and they shall reap the whirlwind." Purity of life is essential and indispensable for real joy.

Serious thought and sober reflection show that animal butchery is against human nature. These remarks of Francis Bacon are illuminating, "Nature has endowed man with a noble and excellent principle of compassion which extends also to the dumb animals. Hence, this compassion has some resemblance to that of a prince towards his subjects." He further observes, "And it is certain that the noblest souls are the most extensively compassionate, for narrow and degenerate minds think that compassion belongs not to them, but a great soul; the noblest part of creation is ever compassionate."

Selfish and shortsighted people say, "Animals have no souls, therefore, there is nothing wrong in relishing their meat." This is a wrong and irrational approach to the real state of affairs. A compassionate cardinal has observed. "The ancients treated man of the rightless classes much as we treat animals. Gladiators could be killed for sport and Galen and Celsus speak of the established practice of human vivisection on the persons of criminals, doubtless on the weighty ground of high benevolence." If the moderner feels and argues

that the approach of the ancients was wrong, brutal and vulgar, why not the same logic be applied to the case of voiceless and innocent animals who also think and feel like us? Man must behave like a sensible, rational and cultured creature.Man should not be mean and brutal. He has to answer the point, whether kine, like men have any right to live and survive or not? A cultured gentleman should not encroach upon the natural right of others on the ground of his superior intelligence. If he is really cultured he must respect the legitimate rights of others. We ought to seriously remember that the word 'MAN' is meaningful. It signifies that "M" stands for mercy, "A" suggests affection and "N" denotes Noble life. Mercy, Affection and Noble conduct are essential for a real man if he does not belong to the category of a beast.

Some men of extremely refined taste angrily remark that it is indecent and unjust to criticise one's personal life and conduct, which depend upon personal tastes and temperaments. These fellows are warned of the evil consequences of their heartless and callous conduct. They must remember that the path of cruelty leads to destruction and grief and the life of love and mercy leads to divinity and bliss. Dr. George Arundale in his book *"The Night Bell"* writes, "One way leads to destruction. It is the way of tolerance of cruelty, if not active engagement in it. It is the way of hunting for sport, the way of vivisection, the way of killing animals for food, the way of making slaves of animals without thought for their happiness and well-being. This is the way the world has been treading."

"The other way leads to salvation. It is the way of harmlessness, the way of recognition of brotherhood with all creatures, the way of endurance and compassion, the way of service and not of selfishness."

The sensible and soberminded embrace the sublime path of love all, serve all. If this Divine ideal is implanted in every heart and faithfully followed, the climate of this troubled and turbulent globe will be healthy and glorious in no time. From the aesthetic point also, the call of

compassion is valuable and worthy of approbation. Jawaharlal Nehru's words are interesting. "Life would become very dull and odourless, if we do not have these magnificent animals and birds to look at and play with."

Jain thinkers fully understand the difficulties which come in the way of the practice of complete non-violence, since life is impossible without destruction of innumerable small insects. The life of a tyrant and a selfish short-sighted person has been condemned.

There are various grades for the practice of this noble principle. The novice should abandon Intentional Injury to the vitalities of other creatures. If there is no 'Mens rea'-guilty intention, one is not adjudicated guilty of violence, e. g., a surgeon carefully performs an operation with all attention and yet the patient may die. In that case the doctor will not be guilty of the murder of the man, on the other hand, the burglar who robs a citizen of his valuables, will be punished as a felon because of his evil motive. Motive is the important factor whether an act comes under the purview of violence or otherwise. With a view to achieve mental purity and equanimity one must try his level best to be as much merciful as the circumstances permit him to practise. The householder's non-violence is partial and he cannot attain perfection in its various responsibilities and liabilities. As he advances in spiritual plane and controls his passions he can make rapid strides on the path of progress and gradually become perfect in his achievement. The complete and flawless practice of Ahimsa raises the man to Godhood. This Ahimsa gives Light, provides Delight and bestows Might to its faithful and honest aspirant.

The life of mercy has a touch of divinity therein. These words are thought-provoking, "All the paths of the Lord are mercy and truth (Psalm 25 : 10). Be ye! therefore, merciful for your Father also is merciful" (Luke VI, 36). Shakespeare also honours this view when he says, "It is an attribute to God *himself*." *(Merchant of Venice).* The merciful man can hope for Divine mercy but it looks awkward when

the cruel and tyrant felon expects mercy of God inspite of his henious and cruel way of Life.

Gandhiji who is known as the greatest disciple of Ahimsa was, in fact, on the lowest rung of the ladder. He aspired the highest type of Ahimsa by becoming a nude Jain monk. When Churchill had rebuked Gandhiji by calling him "A naked Fakir", he had informed Churchill "I would love to be a naked Fakir but I am not one yet." *(The Life of Mahatma Gandhi* by L. Fisher p**.** 473).

It is to be noted that nudity of the non-violent saints is not an end in itself, but it is a means to attain the bliss of Nirvana. Jain scriptures have strongly condemned that nudity which is not adorned with the highest type of noble and virtuous life. A monkey is naked, innumerable living souls remain naked; their nudity shorn of sublime thoughts and purity of life will do no good to their struggling souls. That nudity is commendable which is resorted to for self-purification.

Dr. Sir M. B. Niyogi, ex-Chief Justice of the Nagpur High Court, was much impressed by the noble and lofty character of a *Digamber Jain Saint, Sir Sumatisagarji Maharaj. He observed Nudity is the climax of self-sacrifice and self-purification. It is the triumphant conquest over the vices of greed, prejudice and other carnal desires. When a man renounces all his belongings and becomes fearless, then only he can discard the last symbol of this worldly attachment by embracing the cult of nudism. This is the highest stage, which every real sadhu aspires to attain in this life." *(Leader,* Allahabad 15-1-45).

History records that these highly cultured, non - violent nude and elevated souls were respected and highly venerated by monarchs and the common men alike. 'The great grandfather of king Asoka

* Jain Scriptures ordain that the nude saint must be pure and innocent like a Child. The nudity is called .'Jataroopta' tkr:irk & like a child. The child is loved by all due to its purity of mind. It is said, "The disciples, came to Jesus saying, who is the greatest in the kingdom of Heaven? And calling to him a child, he put him in the midst of them." (Matthew-18 : 1-2)

called Chandragupta Maurya had become a nude Jain monk. The act of subjugating inner passions and carnal cravings is not an easy affair. Poet Tagore's remarks made in his lectures in America are very significant, "In this natural world with the help of science man is turning the forces of nature into obedience. But in this moral world he has a harder task to accomplish. He has to turn his own passions and desires from tyranny into obedience." *(Personality* p. 90). Such non-violent saints enjoy the beauties and sublimities of the inner world. These remarks of Milton are illuminating. "He who reigns within himself and rules his passions and fears is more than a king." He sports in the self, delights in the Self; for he has to obtain the Kingdom of Heaven hidden within.

Those souls who are spiritually and mentally weak lead the life of house-holders and discharge their duties with a compassionate outlook. Jainism has not taken an extreme and one-sided view of Ahimsa for a layman. It has classified it into various stages according to the mental make up and environments of the adherent. Even the use of weapons has not always been wholly condemned or discarded on the occasion of safe-guarding and maintaining the dignity of Law and Justice, against the aggressive and vindictive measures of the culprits in the absence of some other better way and make it impossible for the miscreants to disturb the smooth and peaceful working of the society.

To punish the wicked is a sacred duty. Thomas Jefferson's words are significant, "Resistance to tyrants is obedience to God". As a matter of fact, the avoidance of voluntary or intentional injury has been enjoined upon all the votaries of non-violence. It is therefore consistent with the doctrine of non-violence to rule over vast territories. It is a historical fact that Jain monarchs such as Bimbasar, Chandragupta Maurya, Samprati, Kharvela, Amoghvarsha, Kumarpala etc. had ruled over the country with remarkable success.

King's sacred duty is to protect the innocent, noble and pious subjects and punish the wicked. If the ruler forgets his responsibility, there will be the rule of anarchy and the people will come to distress. In this context Guru Nanak's observations are significant, "When the strong fall upon the strong , there is little cause for regret, but when a blood-thirsty tiger pounces on defenceless cows, the cowherd must come to their rescue." Every sensible person will agree that the arrogant aggressor must be punished severely so that his criminal tendency may be curbed forever. The remarks of Sardar Patel are in consonance with the philosophy of Ahimsa, 'In this Kaliyuga we shall return Ahimsa for Ahimsa but if someone resorts to force against us we shall meet it with force." *(The Indomitable Sardar* p. 243).

The celebrated Jain monk Swami Samanta Bhadra writes "Lord Shanti Nath *(the 16th Jain Prophet),* when a house-holder, had conquered over the multitude of monarchs of the whole world." Charnundaraya, the renowned minister of Ganga, the king of South and a great Jain devotee, had waged several wars himself. It is interesting to note that he had composed a book on Jain Ethics in the battle-field.

R. B. Dr. G H. Ojha's remarks are significant, "Valour is not the monopoly of any particular community. India has produced chivalrous persons in every community. Rajputana has always been the land of the brave. The Jains have never lagged behind in this respect, inspite of the prominent place allotted to compassion in Jainism. Since many centuries the Jains have been occupying the exalted offices of the ministers and the like. In the hour of national calamity they had rendered remarkable services, references whereof occur in history."

The fundamental point is that one should not resort to violence as far as possible. He should not take pleasure in case he happens to destroy life under compulsion. In his heart the genial current of compassion should never stop its inner flow. Although a warrior or a monarch, he will never touch wine or meat, since they disturb the

purity of mind and equanimity, which are the guiding factors to take the right decision under the circumstances. Tolstoy has said, "I flatly declare that a man fed on whisky and dead bodies cannot do the finest work of which and he is capable." *(Leaders of Modern Thought p. 35)."* The vision of the non-violent householder is not blurred by the pomp or power of the world. He knows his place in this huge world. He feels seriously that our life is uncertain.

We are like sands upon the shore,

A little wave and we are no more.

In this context the words of Ernest Hemingsway are significant- "Every single man's death reduces me, for, I am one of mankind. Hence, I never ask, "for whom the bell tolls? It tolls for me."

A person blessed with this wisdom tries his best to adopt pure and virtuous code of conduct. "Jain ethics are meant for men of all positions; for kings, warriors, traders, artisans, agriculturists and indeed for men and women in every walk of life. Do your duty and do it as humanely as you can. This, in brief, is the primary precept of Jainism." *(Smith-History of India* p. 53).

Lord Mahavira has warned the world against the consequences of the callous life of a cruel and merciless person. Lord has said, "All the miseries spring up from violence-Himsa. The life of Ahimsa helps a person to attain Godhood and enjoy the everlasting happiness. It is said that, "God does not ask money of you but a merciful heart and a pious mind" *(Clement A.N. C.L. Vol. III,* p. 453-455). Emerson's words are worthy of note, "The kingdom of God is not meat and drink, but righteousness and peace." The ethical code for a noble man should be "To live, let live and help others to live."

Those who aspire for internal peace, worldly progress and plenty should concentrate their attention upon these words of Jain saint Kundkunda expressed in his Tirukkural, "A person who has personally

experienced what is injurious to his own life, why should he inflict injury on other living beings? Killing brings all other evils."

"Share your meal with the needy. Protect every living being. This is the chief of all the moral precepts formulated by those well-versed in scriptures."

"Not to kill is one good deed par excellence. Next to this comes the virtue of speaking truth."

"Even though the happiness of heaven obtained by sacrifice be great, wisemen despise it as worthless because it is won by slaughter." What comes from virtue is real happiness. All else is other than real happiness and also devoid of glory. Know ye, that what ought to be done by each is virtue and that what ought to be shunned by each is vice. Be pure in mind. That is just the nature of virtue. All else is empty sound and quite worthless. (Tirrukkural).

These sublime thoughts of SaintAmitgati should illumine every thinking soul, "O my Lord, make myself such, that I may always have love for all living beings, pleasure in the company of the virtuous, sympathy for the afflicted and tolerance for those perversely inclined." *(Pure Thoughts).*

May the radiant sun of mercy bestow kindly light to those, who are wandering on the pernicious path of Vanity, Cruelty and Barbarity.

Jainism and Peace

-Late Pt. Sumer Chand Diwakar
Seoni (M.P.)

Modern man has made tremendous progress in the domain of science and technology. There is really vast difference between the man of the so-called Stone-age and the man of our modern times, who has entered into the unique space age. But in spite of this material advancement, real and lasting peace is not within reach. A critical examination of present day conditions shows that we lead the life of luxury and multiplicity. We have forgotten our soul and we are solely devoted to physical comforts and material prosperity. We appear to have captured the secret of the dead atoms, but we seem to have lost sight of the glory of the living soul, which is the repository of infinite attributes. Our complex way of living is increasing our requirements and needs and we do not get the real satisfaction we need. As saline water does not quench our thirst, it rather goes on increasing, similarly the greater the number and variety of objects to placate our ever-changing fastidious tastes and longings, the more uneasy and unhappy we become when our way ward mind does not get its desired objects. This form of life has made us slaves of temptations and material comforts. We have captivated ourselves in the meshes of attachment and aversion. We have forgotten that this enchanting edifice of progress built on the sand of soul-less materialism will not last long. We do not take lesson from the ruins of Rome and Greece which were once on the apex of civilization and material prosperity. These words of Wordsworth are very significant:

The world is too much with us, late and soon,
Getting and spending, we lay waste our powers;
Little we see in Nature that is ours;
We have given our hearts away, a sordid boon.

We are devoted to unbridled lust, luxury and licentiousness to feed our animal passions. We mourn and bewail for our miseries and mental worries as if some outer agency is the mischief-monger, but, in fact, we are solely and wholly responsible for all our ills and evils.

We forget that we should subjugate our animal nature. The sensible man should not sacrifice his rationality at the alter of beastliness and carnal cravings. The mental and moral make-up of the man of this self-indulgent age is bewildering. He is shorn of real inner-life. He is ready to kill millions of men to satisfy his vanity, whim, nationality and greed. He has a heart of stone. Billy Graham rightly remarks that we live in an age of spiritual emptiness. He says, "While Nietzsche asserts that God died in the 19th century, some now add that man died in the twentieth century" *(The World Aflame)*.

The real cause of universal unrest and misery is our uncontrolled acquisitive temperament and the insanity of vanity. We are so much selfish and self-centered that we pay no heed to the pangs and anguish of the poor and the weak. The monster of materialism is guiding and goading the economic man to satisfy his animal appetites little caring for moral values. The wise suggests that the inordinate desires should be subdued and checked. As a matter of fact our genuine needs are few. Our inordinate greed makes us possess as much as we can. We forget that our stay in this body is very uncertain. Who knows that in the twinkling of your eyes we may have to depart from this temporary tabernacle? In that case all our material gains and possessions remain behind. The words of the Old Testament turn out to be true, "Naked came I out of my mother's womb and naked I return." Not even a particle is taken away by the departed soul with it except one's Punya and Papa—merits and demerits.

In this context the words of Emerson are illuminating; "Several land-lords owned large farms, which rendered them bumper crops of corn, apples, hay, hemp and other things. The landlords said that they were the masters of the farms. Hearing this the Earth echoed back.

They call me theirs'
Who so controlled me;
Yet every one
Wished to stay and is gone.
How am I theirs'
If they cannot hold me.
But I hold them?"

It is unfortunate that the dictum of modern man is: Gold is God and Gold i.e. material gains only will solve all puzzles. Thomas Fuller's observations are sensible and significant, "Contentment consisteth not in adding more fuel, but in taking away some fire; not in multiplying of wealth, but in subtracting man's desires."

We should not aim at the life of a glutton or the pleasures of a pig. Since we are rational beings we should set the highest value not on living anyhow, but on living well. It is ne-science which has dragged us to the brink of destruction, wherein war and carnage are looming ahead. The voice of reason ordains, "Thou shall not build the happiness on the misery of another." We should stop our mad race for worldly pleasures if we seriously aspire to achieve genuine and perennial peace. Jain sages and thinkers advise us to cut short our wants as much as possible so that we may be one day above all sorts of wants; because we see, the lesser the wants, the greater is the quality and quantity of happiness and contentment. The life of simplicity and purity bestows sweeter results than the life of luxury and perplexity.

The following description of Poet Tagore's Santiniketan University is significant, "In Santiniketan boys learnt to think truth more important than riches, to love nature and to respect all life. He believed that India's work is to teach the world the love of outward simplicity and inward truth. People gather too many things round them—money, motors, radios and lose the secret of real happiness. India needs to find again the secret of real happiness and to do so she

needs modern forest schools away from the noise and rush of town." *(Sykes, Rabindranath Tagore p. 52).*

These words of the Poet are illuminating, "I do not seek to glorify poverty, but simplicity is of greater price than the appendages of luxury. The simplicity of which I speak is not merely the effect of a lack of superfluity; it is one of the signs of perfection. When this dawns on mankind, the unhealthy fog, which now besmirches civilization will be lifted. It is for this lack of simplicity that the necessaries of life have become so rare and costly." *(The Centre of Indian Culture p. 7).*

How touching and sarcastic are these remarks of Poet Tagore, "Happy child, the cradle is still to thee a vast space. But when thou art a man the boundless world will be too small for thee." His acquisitive temperament increases by leaps and bounds.

Some hold that civilization consists in the increasing of wants and the plans to satisfy them. This view is contradicted by our own experiences. The want is really like a devil, which can never be satisfied. Acharya Gunbhadra's reasoning is very sound when he says; "Every living being has such a deep pit of worldly desires that all objects in the world amount to a particle for it. What and how much, then, can each get? Useless is the desire of sense-enjoyments."

The rational and noble mind understands that he is not the body. The self or the soul is different from the material body. The ignorant forgets his own self and treats his frame as his own self. American physician Holmes throws light upon human body as follows, "A few gallons of water, a few pounds of carbon and lime, some cubic feet of air, an ounce or two of phosphorus, a few grams of iron, a lash of common salt, a pinch or two of sulphur, a grain or more of each of several hardly essential ingredients and we have man." This material man has been further explained thus, "93% of the weight of the body is made up of three elements—oxygen, carbon and hydrogen; nearly six percent of nitrogen, calcium and phosphorous and the rest of traces,

but very important traces of various minerals and salts among which iron and iodine are the most necessary".

Jain saints have advised us not to be body-minded, but we should try to think of the Kingdom of Heaven hidden within. We must understand this central truth about the Self. Acharya Kundakund says: "Absolutely pure, having the nature of perception and knowledge, always non-corporeal, I am indeed unique. Hence not even an atom of alien things, whatsoever (whether living or non-living) is related to me... as mine."

The spiritual-man is adorned with the above central truth. The knowledge of the soul together with its attributes is very essential to achieve everlasting peace. It frees the soul from the pangs of birth, old age, death and transmigration in the world. Vivekanand has said; "Without the knowledge of the Spirit all material knowledge is only adding fuel to the fire. Religions of the world have become lifeless mockeries. What we want is character. To be and to do good, that is the whole of religion."

His Holiness Charitra Chakravarty Jain Acharya Shantisagar Maharaj talking about real happiness had once told me, "Material objects cause mental distress and arouse several worries, whereby the mind cannot enjoy tranquility and peace. The serenity of a lake is disturbed, when a pebble is pelted therein; in the like manner the material objects bring in their train dissatisfaction, mental worries and anxieties. This state of affairs acts as an impediment on the path of spiritual progress and perfect joy." His Holiness further observed, "Ahimsa and Truth will bestow genuine peace and happiness. Ahimsa stands for the abandonment of meat-eating, drinking, commerce in flesh, killing of animals for sport, destruction of human or sub-human life. Thinking of doing evil to others or causing pain to fellow creatures is also to be abjured. Truth consists of realizing our intrinsic nature of soul and giving up of dependence upon material objects. The five-fold observance provide real peace to the individual and the society.

Non-injury, truth, non-stealing, celibacy and abandoning outward objects constitute the five vows, which ought to be partially observed by the householder. All nations should follow the principle of Ahimsa otherwise this volcano of violence will lead them to untold distress and universal destruction."

Out of sheer ignorance we make a search for happiness in outward objects, when we ourselves are, in fact, the ocean of joy, which can be achieved by the life of purity. The Bible says, "Blessed are the pure in heart for they shall see God." Purity consists of casting away the vicious way of thinking and living up to it. It does not consist of sweet, silver-tongued orations, shedding of crocodile tears or expression of pious, but insincere wishes. In fact, purity consists of the entire way of life based upon the golden gospel of mercy, compassion or Ahimsa for all beings. We ought to respect the legitimate rights of others. We should bear in mind that real mercy or compassion comprises of affection in action and reflection. It does not consist of jugglery of affection—exhibiting and pleasing Vocal expressions.

The wine of violence has dethroned the soul from its Divine Status. One who sincerely wants real peace should devote some time for introspection and contemplation upon the real nature of the Self. He should think thus : "I am a living substance. The nature of material objects is different from that of mine. How can I be one with the matter which is different from my intrinsic nature. My soul is the real abode of infinite peace and boundless bliss. I should not foolishly run after material object for my happiness. As one cannot get oil out of sand for there is no oil in it; likewise the material objects do not possess any peace, therefore, the effort of finding peace in material objects is the greatest blunder.

These remarks are illuminating, "Love not the world, neither the things that are in the world. If a man love the world the love of the Father is not in him." *(John II, 15-17)*

When karmic bonds are broken by dint of self-contemplation I attain Godhood, which is the inherent right of every aspiring soul. Right faith, Right knowledge and Right conduct combined lead to liberation and perennial joy and peace. Then disease, old age and death do not trouble the soul any more and it remains happy for ever. The trident of spiritual force annihilates the entire army of the evil and establishes the kingdom of soul. Lord Tennyson's words are memorable :

Self-reverence, Self-knowledge, Self-control;

These three alone lead life to Sovereign power. As a matter of fact, our very soul is a place of wonders. It has been working miracles in the domain of physical science. Due to stupefaction and ignorance we have forgotten our powerful soul and we devote all our attention to the dead and non-sentient matter. Acharya Amritchandra says : "One who is engrossed in his own Self, finds his solace in his Self and derives full satisfaction from his Self, enjoys transcendental and divine Happiness, which is beyond expression." We all are after enjoyments and feel that it is outside the Self. That Joy is not out of us. A little change in the word 'Enjoy' reveals the truth. We should read 'In-joy', if we want to enjoy. One whose attention is diverted towards 'warship' does not pay any heed to worship. The living self is dead to him and the dead matter is living to him. Such is the supremacy of nescience and delusion. The person equipped with spiritual outlook tries to 'look in'. He is in a position to have a taste of genuine peace for the abode of peace is not in the outer world of senses. Even the idol, which represents the ideal of introspective mood and which is devoid of all sorts of physical covering or ornamentation gives peace and joy to the troubled mind.

This point becomes clear when a man of any religious denomination or without religion beholds the Jain monolithic colossus of Lord Gommateshwara 57 feet high in the standing posture at Sravanbelgola near Mysore. A Kannada poet Boppana explains, what

the silent serene sentinel appears to be speaking, "Why in vain do you make yourself wander in the forest of births by foolishly mistaking the various dying deities of the land for gods? Think on Gommatadeva, who is of the form of the supreme soul, and you will get rid of birth, old age and other sorrows. No man shall take pleasure in killing, lying, stealing, adultery and covetousness, if he does, he will lose forever this world and the next. Lo, Gommatadeva looks as if proclaiming this standing on high" *(Inscriptions of Sravanbelgola dated 1080 A.D. pp. 98-99)*. In the presence of this majestic idol of ideal peace and joy one gets the answer to the question : whither peace ? Such representations of pure and perfect souls are found in every Jain temple.

Deep thought reveals the point that the price for real peace is the life of universal brotherhood and mercy. Pt Jawaharlal Nehru's observations are significant, "Peace cannot be purchased by compromise with evil or surrender to it". The brute-in-man tries to enjoy without caring for the distress and anguish of others, but the gentleman's viewpoint keeps in mind the natural and moral rights of all living beings. George Bernard Shaw championed the cause of universal love and justice. He had observed, "If I were an omnipotent despot I should enforce such a distribution of the material conditions of natural vitality as to make my subjects independent of analgesics, intoxicants, stimulants, tobacco, fish, flesh and fowl for their endurance of life".

Sober and serious thought enlightens us that peace or happiness is only there where the genial and boundless current of compassion and universal love incessantly flows. Killing the innocent or the weak is, in fact, the culture of vultures. It can never be real culture. This is not the proper way to peace.

The message of Jainism is that miseries evolve out of violence or Himsa. The higher the type of non-injury the greater the peace enjoyed. Peace is not manufactured anywhere. It is not attained by power or treasures of mighty monarchs or democratic institutions.

It is the sublime reward of noble and virtuous life. The virtuous are always happy and peaceful whether they are poor or friendless or placed in worst circumstances. External environment does not disturb their inner joy and serenity of mind. Worldly contacts and possessions are parasites, which multiply worries and disturb the serenity of mind. Unless a person is above want and mentally and morally strong, he cannot have a glimpse of peace. The novice should start his journey to the harbour of happiness by possessing less in the form of material objects which are, in fact, burden to the soul. These material objects cause the fall of the inner-man. How elevating and illuminating the words of the Jain Saint Gunbhadra are, "Just see the pans of a balance. That which is loaded goes down and the lighter one rises up; similarly a person possessed of the burden of the worldly objects will go down and the fellow with few objects will rise up."

Desire and lust enter the mind and corrupt the soul through the sense-gates. These senses stupefy the soul's right perspective and correct approach. The World Teacher and founder of Jainism Lord Rishabhadeva has warned us to control our desires and subjugate our senses. We should not aim at insentient matter as our final food. In fact, we have to save ourselves from the clutches of matter. One should aim at the manifestation of one's Divine attributes lying dormant in the mundane soul.

Jesus tells us that "This world is a bridge to pass on. It is not a place to play bridge thereon." Man forgets this noble gospel of wisdom and he keeps himself busy in constructing huge mansions and repents when he has to leave all his belongings while passing on to the other world.

It is worthy to note that Jain literature is replete with the ideas which elevate the soul and help it raise itself from manhood to Godhood. Jainism points out that our present day troubles are the consequences of Himsa—violence and unbridled acquisitive temperament. We should try our best to get rid of these evils.

We should utilize the two oars ofAhimsa and Aparigrha—non-violence and possessionlessness to protect our boat of life from sinking in the deep sea of Transmigration and lead it to the harbour of immortality and everlasting bliss.

The words of Saint Samanlhhadra are elevating and illuminating:—"One who desires to achieve spiritual peace, should eradicate the blemishes that deprave the soul ''स्वदोष–शान्त्या विहितात्मशान्तिः'' (स्वयंभूस्तोत्र) Verily, Self-absorption and virtuous life lead to transcendental bliss and perennial peace. Internal purity and sublimity are indispensable for perennial peace and joy.

Jain Tirtharikara's sermon for real happiness-

Be light,

Get light,

Then delight will follow,

As the day follows the night.

Think once! What should I do?

-Aryika Chandnamati

LIVE AND LET LIVE

It is the main principle of Mahavira.
The soul is in every creature
And
They also feel happiness and suffering .
O Holiman of the World!
You think once,
If anybody gives pain to you,
Then you feel very bad.
So if it may be possible for you,
To give happiness to every little and big creature.
The living-beings of forest also want a peaceful life,
Let them live in the forest.
You think secondarily,
You are human and humanity is necessary for you,
And violence is not your field.
Today also in india;
Where Lord Mahavira, Gautam Buddha, Mahatma Gandhi
And many other great souls have born,
The earth is weeping today, seeing the nacked dance
Of violence and saying to you;
Oh my child!
Why are you doing violence to your brothers?
The creatures of forest are also your relatives,
Because they are saving the environment.....
My friend! listen to the instructions of Lord Mahavira—

1. Non-violence is your main principle.
2. Non-violence is the truth of soul.
3. Non-violence is the first aspect of Lord.

विश्वशांति चालीसा

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न चंदनामती

—दोहा—

शांतिनाथ को नमन कर, चाहूँ आतम शांति।
सर्व उपद्रव शमन कर, पाऊँ सुख अरु शांति।।1।।

विश्वशांति के हेतु मैं, करूँ मंत्र का जाप।
चालीसा के पाठ से, होवें सब निष्पाप।।2।।

पाप बहुल इस सृष्टि में, हो सतयुग का वास।
मैत्री फैले विश्व में, आपस में सौहार्द।।3।।

—चौपाई—

हो जयवंत भरत का भारत, आर्यावर्त कहा जो शाश्वत।।1।।
जन्मे जहाँ सभी तीर्थंकर, पूज्य धरा वह सर्व हितंकर।।2।।
इस धरती का कण कण पावन, सारे तीर्थ यहीं मन भावन।।3।।
यहाँ धर्म गंगा बहती है, जनता सभी सुखी रहती है।।4।।
सन्त तपस्या में रत रहते, ज्ञानप्रभा युत प्रवचन करते।।5।।
भारत देश तभी तो जग में, धर्मगुरू कहलाया सच में।।6।।
उनके तप का अतिशय भारी, वे ही वरते हैं शिवनारी।।7।।
कहा जैन रामायण में यह, सन्त करें तप त्याग जहाँ पर।।8।।
उस धरती के शासक को भी, मिले पुण्य का छठा अंश भी।।9।।
यह विशेषता है भारत की, धर्मनीति अरु राजनीति की।।10।।
धर्मगुरू यहाँ पूजे जाते, शासक उनसे शक्ती पाते।।11।।
भक्त यहाँ मंदिर बनवाते, प्रभु को मंदिर में पधराते।।12।।
गूंजे जहाँ सदा पूजा स्वर, मंगलगान करें सब घर-घर।।13।।
सभी चाहते जीवन सुखमय, कभी न आवे दुःखों का भय।।14।।
दुख से डरता है हर प्राणी, फिर भी दुख पाते अज्ञानी।।15।।
इसमें कारण एक यही है, पुण्य भावनाएँ न रही हैं।।16।।
पुण्य का फल सुख सभी चाहते, किन्तु पुण्य करना न चाहते।।17।।
पाप का फल दुख नहीं चाहते, किन्तु लिप्त हों पाप कार्य में।।18।।

ये अनादि संस्कार हैं जग में, जिससे प्राणी दुखी है सच में।।19।।
पर की उन्नति देख न पाता, अपनी ईर्ष्या रोक न पाता।।20।।
गुण में दोष तभी दिखता है, अपना दोष भी गुण दिखता है।।21।।
इन भावों से सुख नहिं मिलता, आत्मज्ञान का कमल न खिलता।।22।।
आत्मशांति तो भंग हुई है, दुःख अशांति की वृद्धि हुई है।।23।।
देश जाति भाषा के नाम पर, होते हैं संघर्ष परस्पर।।24।।
हिंसा अरु आतंक बढ़े हैं, बम विस्फोटक तत्व बढ़े हैं।।25।।
इनसे शांति मिलेगी कैसे, प्रेम की कली खिलेगी कैसे।।26।।
विश्वशांति के अनुष्ठान हों, जिससे जन-जन का कल्याण हो।।27।।
ऋषभगिरि मांगीतुंगी में, ऋषभदेव भगवान विराजे।।28।।
सबसे ऊँची मूर्ति जगत में, विश्वशांतिकारक हैं प्रभु ये।।29।।
कहा ज्ञानमति माताजी ने, सभी मनाओ शांतिवर्ष ये।।30।।
विश्वशांति का मंत्र जपो सब, वातावरण पवित्र करो सब।।31।।
इससे सबकी रक्षा होगी, परिवारों की सुरक्षा होगी।।32।।
राज्य राष्ट्र में हो सुभिक्षता, मिट जावे धरती से हिंसा।।33।।
बाल वृद्ध हों युवा या नारी, शांतिविधान करें सब भारी।।34।।
विश्वशांति हित शांतिधारा, प्रभु मस्तक पर हो जलधारा।।35।।
वह गन्धोदक सिर पे लगाओ, आत्मशांति को तत्क्षण पाओ।।36।।
भूकम्पादि कष्ट नश जावें, अग्नि काण्ड भी दूर भगावे।।37।।
आगन्तुक संकट टल जावें, आधि-व्याधि के कष्ट न आवें।।38।।
एक साथ जब बिगुल बजाये, मन में अति आनंद समाये।।39।।
जय हो विश्वधर्म की जय हो, धर्म अहिंसा सदा विजय हो।।40।।

—शंभु छंद—

यह विश्वशांति का चालीसा, जग की अशांति को दूर करे।
सबके मन परिवर्तित करके, अध्यात्म भाव को पूर्ण भरे।।
''चंदनामती'' सुख शांति चमन का, उपवन पुष्पित सदा रहे।
भारत के संग सब देशों की, मैत्री युत गंगा सदा बहे।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-है प्रीत जहाँ की रीत सदा.....

प्रभु ऋषभदेव के पुत्र भरत से, भारतदेश सनाथ हुआ।
यह आर्यावर्त इण्डिया हिन्दुस्तान नाम से सार्थ हुआ।। टेक.।।

यहाँ तीर्थंकर प्रभु लार्ड गॉड, साधूजन सेन्ट कहाते हैं। हो.....
यहाँ गुलदस्ते की भांति कई, जाती व पंथ आ जाते हैं।। हो.....
चैतन्य तत्त्व की प्राप्ती का-2, संचालित यहाँ से पाठ हुआ।
यह आर्यावर्त इण्डिया हिन्दुस्तान नाम से सार्थ हुआ।।1।।

भारत को भारत रहने दो, इण्डिया न यह बनने पाए। हो.....
इसकी आध्यात्मिक संस्कृति का, अपमान नहीं होने पाए।। हो.....
यहाँ ऋषभ, राम, महावीर, बुद्ध-2, का अमर सदा सिद्धान्त हुआ।
यह आर्यावर्त इण्डिया हिन्दुस्तान नाम से सार्थ हुआ।।2।।

यहाँ की सीता सम नारी पर, छाया न किसी की पड़ पाए। हो.....
यहाँ जन्मीं ब्राह्मी माता सम, माँ ज्ञानमती के गुण गायें।। हो.....
''चन्दनामती'' भारत की संस्कृति-2, का तब ही उत्थान हुआ।
यह आर्यावर्त इण्डिया हिन्दुस्तान नाम से सार्थ हुआ।।3।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज–काली तेरी चोटी.....

अहिंसा प्रधान मेरी इण्डिया महान है।
इण्डिया में जन्मे महावीर और राम हैं।
यहाँ की पवित्र माटी बनीं चन्दन, उसे करो सब नमन।। टेक.।।

जहाँ कभी बहती थीं दूध की नदियाँ।
वहाँ अब करुणा की माँग करे दुनिया।।
अत्याचार पशुओं पे होगा कब खतम, उसे करो सब नमन।।1।।

प्रभु महावीर का अमर संदेश है।
लिव एण्ड लेट लिव का दिया उपदेश है।।
मानवों की मानवता की यही पहचान है।
जाने जो पराए को भी निज के समान है।।
तभी अहिंसा का होगा सच्चा पालन, उसे करो सब नमन।।2।।

अहिंसा के द्वारा ही इण्डिया फ्री हुई।
ब्रिटिश गवर्नमेंट की जब इति श्री हुई।।
चाहे हों पुराण या कुरान सभी कहते।
अहिंसा के पावन सूत्र सब में हैं रहते।।
यही मेरे देश की कहानी है पुरानी।
अहिंसक देशप्रेमियों की ये निशानी।।
'चंदनामती' यह देश ऋषियों का चमन, उसे करो सब नमन।।3।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-माई रे माई.....

ऋषभगिरि मांगीतुंगी से, इक आवाज है आई।
विश्वशांति के हेतु ज्ञानमती-माँ की प्रेरणा पाई।।
जय हो ऋषभदेव की जय, जय हो विश्व धर्म की जय।।

दुनिया के सब देश चाहते, आपस में मैत्री हो।
फिर भी क्यों आतंक बढ़ा है, यह विचार गोष्ठी हो।।
धर्म अहिंसा ने ही देश को, आजादी दिलवाई।
विश्वशांति के हेतु ज्ञानमति-माँ की प्रेरणा पाई।।
जय हो ऋषभदेव की जय, जय हो विश्वधर्म की जय।।1।।

फूलों के गुलदस्ते सम है, भारत देश हमारा।
कई जाति पंथों का दिखता, यहाँ समन्वय प्यारा।।
इसी समन्वय की बगिया, हम सबने मिल महकाई।
विश्वशांति के हेतु ज्ञानमति-माँ की प्रेरणा पाई।।
जय हो ऋषभदेव की जय, जय हो विश्वधर्म की जय।।2।।

विश्व की सबसे बड़ी मूर्ति है, ऋषभदेव जिनवर की।
अनेकांत अपरिग्रह वाणी, बिन बोले यह कहती।।
इनने ही ''चन्दनामती'', जीने की कला सिखाई।
विश्वशांति के हेतु ज्ञानमति-माँ की प्रेरणा पाई।।
जय हो ऋषभदेव की जय, जय हो विश्वधर्म की जय।।3।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-मांगीतुंगी तीर्थ से आमंत्रण आया है.....

शांति अहिंसा विश्वप्रेम की ज्योति जलाना है,
मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में।।टेक.।।

प्रेम बढ़ेगा जग में, मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में-2
शांति अहिंसा विश्वप्रेम की ज्योति जलाना है,
मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में।।टेक.।।

दुनिया के सब देशों में, यह भारत देश विलक्षण है।
कई जाति पंथों का केवल इसी देश में संगम है।।
यहाँ से सबको लोकतंत्र का पाठ सिखाना है।
मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में।।शांति....।।1।।

यहाँ के साधु-साध्वी देश का गौरव सदा बढ़ाते हैं।
विश्वशांतिकारक मंत्रों का अनुष्ठान करवाते हैं।।
इनकी शक्ति से सबको परिचित करवाना है।
मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में।।शांति....।।2।।

धर्मगुरु के संग राजनेता भी जब जुड़ जाते हैं।
जनहित में ''चन्दनामती'' तब सूत्र नये कुछ आते हैं।।
सोने की चिड़िया भारत का नाम गुंजाना है।
मैत्री भाव बढ़ेगा दुनिया में।।शांति....।।3।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-आम्बे मोहर तांदुल.....

विश्व में शांति हो, अहिंसा की क्रान्ति हो।
यही प्रार्थना है प्रभु जग से हिंसा की समाप्ति हो।।

Art of Living का, जीवन जीने की कला।
ऋषभदेव ने सिखलाई, युग की आदि में बतलाई।।
असि मसि कृषि की क्रान्ति हो, मानव मन में शांति हो।
यही प्रार्थना है प्रभु जग से हिंसा की समाप्ति हो।।

हिंसा से हिंसा बढ़ती, शांति न इससे हो सकती।
सब देशों में मीटिंग हो, कर्त्तव्यों पर थिंकिंग हो।।
धर्म अहिंसा की जय हो, हर मानव मन निर्भय हो।
यही प्रार्थना है प्रभु.....

विश्व शांति अहिंसा, सम्मेलन का दीप जला मिला।
राष्ट्रपति कोविन्द जी को, गुरु माँ का आशीष मिला।।
गणिनी ज्ञानमती की जय, मिले "चन्दनामती" विजय।
यही प्रार्थना है प्रभु जग से, हिंसा की समाप्ति हो।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-कान्ची हो.....

आया है आया रे अवसर ये आया,
विश्वशांति का स्वर उठाना है।
पाया है पाया रे अवसर ये पाया,
अहिंसा का दीप जलाना है।।टेक.।।

अहिंसा से विश्व में शांति होगी,
प्रेम व मैत्री से नई क्रांति भी होगी।
हिंसा समाप्त हो, जग में नव प्रभात हो,
आपस में एकता दिखाना है।।हो.....।।
आया है...।।1।।

वसुधैव कुटुम्बकम् का पाठ पढ़ना,
अपने ही समान सबका सुख-दुख समझना।
भारत की भूमि से, विश्वभर में प्रेम से,
अहिंसा का बिगुल बजाना है।।हो.....।।
आया है...।।2।।

ऋषभदेवपुरम् मांगीतुंगी जी से।
ज्योति जलाई है राष्ट्रपति कोविन्द जी ने।।
गणिनी माता ज्ञानमती, प्रेरणा मिली है उनकी,
''चन्दनामती'' यह बताना है।। हो.....।।
आया है...।।3।।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

तर्ज-दीवाना गुरुवर का.....

विश्व में शांति हो-2
यही प्रार्थना प्रभु से, विश्व में शांति हो.....।
देश-राष्ट्र-पुर सभी जगह सुख क्षेम की नव क्रान्ती हो,
विश्व में शांति हो.....।।टेक.।।

हर प्राणी के सुख दुख में, सहभागी सदा बनें हम।
सबकी ही भावना का आदर, करें यदि अपने सम।।
घर घर में मैत्री के वातावरण से सुख प्राप्ती हो....।।
विश्व में..।।1।।

हिंसा और आतंक के बादल, कभी नहीं मंडराएं।
हर मानव मानवता का, शुभ मंत्र सभी को सुनाए।।
ॐ नमः ऋषभाय विश्वशान्तिम् कुरु कुरु वाणी हो.....।।
विश्व में..।।2।।

गणिनीप्रमुख ज्ञानमति माताजी भारत गौरव हैं।
इनकी ही प्रेरणा से प्रगटे, ऋषभदेव प्रभुवर हैं।।
उन प्रभु की भक्ती से ''चन्दनामती'' सौख्य प्राप्ती हो...।।
विश्व में...।।3।।